इतिहास के लिये कुछ और कार्यस्थगन प्रस्ताव !

''कला और साहित्य राजनीति के मातहत होते हैं, लेकिन वे खुद भी राजनीति पर अपना महान प्रभाव डालते हैं। क्रान्तिकारी कला और साहित्य समूचे क्रान्तिकारी कार्य का एक अंग है, ये दोनों इस कार्य के दाँते और पेंच हैं,तथा ये कुछ अन्य अपेक्षाकृत अधिक महत्वपूर्ण पुर्जो की तुलना में कम महत्वपूर्ण और कम आवश्यक भले ही हों, मगर समूची मशीनरी के अनिवार्य दाँते और पेंच हैं तथा समूचे क्रान्तिकारी कार्य के अनिवार्य अंग है।'' (सृजन–परिप्रेक्ष्य, अंक–1, पृष्ठ–266 पर उद्धृत, माओं–त्से–तुङ, ' येनान कला–साहित्य गोष्ठी में भाषण ')

उक्त उद्धरण **सृजन–परिप्रेक्ष्य** के प्रवेशांक के सम्पादकीय आलेख में इस्तेमाल किया गया है। इस आलेख के द्वारा आज के विशिष्ट दौर में, सर्वहारा क्रान्ति के दो विश्व ऐतिहासिक चक्रों के बीच के संक्रमण काल में क्रान्ति के केन्द्रीय काम के बतौर सर्वहारा पुनर्जागरण और सर्वहारा प्रबोधन को स्थापित करने की कोशिश की गयी है। यह बात केवल भारतीय क्रान्ति के लिए ही नहीं कही जा रही है बल्कि इसे सामान्य तौर पर पूरी दुनिया में क्रान्तियों के अगले चक्र की पूर्व तैयारी के कार्यभार के बतौर रखा गया है। अर्थात यह 21 वीं सदी में इटली–फ्रांस की क्रान्तियों पर भी लागू होती है जहाँ एक बार पुनर्जागरण एवं प्रबोधन हो चुका है और यह चीन जैसे देशों पर भी लागू होती है जहाँ महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति जैसे उन्नत प्रयोग अभी तीन दशक पहले ही हुए हैं। चूँकि *सृजन–परिप्रेक्ष्य* के सम्पादकों ने इतने बुनियादी महत्व का सवाल उठाया है इसलिए देश के कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी आन्दोलन के एक अंश की हैसियत से हम सर्वहारा–पुनर्जागरण और सर्वहारा प्रबोधन की उक्त थीसिस पर अपनी प्रतिक्रिया देना जरूरी समझते हैं।

वर्तमान दौर में क्रान्ति के केन्द्रीय कार्यभार को तय करने के लिए यह थीसिस न केवल वैज्ञानिक तौर पर गलत है बल्कि देश के कम्युनिस्ट क्रांतिकारी आन्दोलन के लिए बेहद खतरनाक भी हैं। इसका पालन करने पर भारतीय क्रान्ति की कोर साहित्यकारों, अनुवादकों,प्रकाशकों,रंग–कर्मियों की मंडली में तबदील हो जायेगी । *सृजन–परिप्रेक्ष्य* की थीसिस की आलोचना हम इसके प्रवेशांक के सम्पादकीय आलेख को आधार बनाते हुए करेंगे। ऐसा इसलिए क्योंकि यह आलेख इन साथियों की सोच व पहुँच की घनीभूत अभिव्यक्ति है। इसे यूँ ही नहीं लिख दिया गया है, इसके पीछे लम्बी तैयारी, चिन्तन एवं चिन्तन के अनुरूप व्यवहार है।

सर्वप्रथम, किसी कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी को इस बात की खुशी ही होगी कि *सृजन–परिप्रेक्ष्य* की कोर टीम मार्क्स, लेनिन और माओ के प्राधिकार को स्वीकारती है। अपनी बातों को पुष्ट करने के लिए लेनिन या माओ को उद्धृत करना ठीक है,कहीं से भी गलत नही हैं। परन्तु यह भी जरूरी कि उद्धरण से उसी बात की पुष्टि होती हो जो आप स्थापित करना चाहते हैं। अब *सृजन–परिप्रेक्ष्य* के सम्पादकगण स्थापित तो यह करना चाहते हैं कि आज के विशिष्ट दौर में सांस्कृतिक कार्यभार (और इसका भी वैचारिक पहलू) क्रान्ति का केन्द्रीय कार्यभार है। अफसोस कि उक्त उद्धरण से उलटी बात स्थापित हो जा रही है; वह यह है कि माओ कला व साहित्य को राजनीति के मातहत मानते थे और क्रान्ति की समूची मशीनरी के कुछ अन्य पुर्जो को कला व साहित्य की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण। इस उद्धरण में ही नहीं,माओ की अन्य रचनाओं में भी यह बात नहीं मिलती कि कला व साहित्य का क्रान्ति के कार्यो में केन्द्रीय स्थान है। और इस बात की तो सम्भावना ही नहीं है कि माओ ने पूरी दुनिया की क्रान्ति के केन्द्रीय कार्यभार के बतौर कभी कला व साहित्य को चिन्हित किया हो। माओ, कला व साहित्य के मोर्चे पर कार्य को समूचे क्रान्तिकारी कार्य के अनिवार्य अंग मानने से आगे नहीं बढ़े। वैसे *सृजन–परिप्रेक्ष्य* के पाठकों को उपरोक्त उद्धरण पर हमारे द्वारा इस टिप्पणी की आवश्यकता नहीं पड़ती यदि सम्पादकों ने ईमानदारी बरती होती और माओ की बात को वैसे ही प्रस्तुत किया होता जैसे वह है। माओ की असली बात इस प्रकार है : *''साहित्य और कला राजनीति के मातहत होते हैं, लेकिन वे खुद भी राजनीति पर अपना महान प्रभाव डालते हैं। क्रान्तिकारी साहित्य और कला समूचे क्रान्तिकारी कार्य का एक अंग हैं, ये दोनों इस कार्य के दाँते और पेंच हैं, तथा* ***अन्य महत्वपूर्ण पुर्जो की तुलना में ये स्वभावतः कम आवश्यक, गौण अथवा दूसरा स्थान लेते हैं,*** *मगर ये समूची मशीन के अनिवार्य दाँते और पेंच हैं तथा*

समूचे क्रान्ति कार्य के अनिवार्य अंग हैं।'' (माओ–त्से–तुड़ की संकलित रचनाएं, विदेशी भाषा प्रकाशन गृह, पीकिंड़, 1975, ग्रन्थ–3, पृष्ठ–150, शब्दों पर जोर हमारा)

उद्धरण के जिस अंश को बदला गया है उसे हम रेखांकित कर रहे हैं क्योंकि माओ की साहित्य व कला की क्रान्ति कार्यो में केन्द्रीयता अथवा प्रधानता पर समझ बिलकुल साफ है। माओ इन्हें महत्वपूर्ण पुर्जो की तुलना में स्वभावतः **कम आवश्यक व गौण मानते हैं तथा इन्हें दूसरा स्थान देते हैं।** माओं इन्हें प्रधान या केन्द्रीय नही मानते। वैसे हमारे संज्ञान में ऐसी भी बात नहीं है कि मार्क्स या लेनिन ने ही साहित्य व कला के मोर्चो के कार्यो को क्रान्तिकर्म में केन्द्रीय कार्यभार माना हो। *सृजन–परिप्रेक्ष्य* की कोर–टीम मार्क्सवाद–लेनिनवाद–माओ विचारधारा की औपचारिक हिमायत करने के बावजूद कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी शिविर में एक विजातीय थीसिस पेश कर रही है।

सम्पादकीय आलेख के शुरू में ही कुछ चौंकाने वाली बातें हैं मसलन *''इन तमाम बदलावों के पीछे सिर्फ यही कारण नहीं है कि सर्वहारा क्रान्तियों के प्रथम संस्करण आज पराजित और विफल हो चुके हैं और सोवियत संघ के नेतृत्व में नामधारी समाजवादी (वस्तुतः राजकीय पूँजीवादी) ढाँचे वाले देशों का शिविर विघटित हो चुका है।* ***इसमें भी बुनियादी कारण*** *(और ये दोनों अन्तर्सम्बन्धित हैं) यह कि साम्राज्यवादी वित्तीय पूँजी की कार्यप्रणाली और लगातार पैदा होने वाले अपने संकटों को निपटाने के उसके तौर–तरीकों में कुछ महत्वपूर्ण बदलाव आये हैं, और इनके चलते,विश्व पूँजीवाद के समूचे परिदृश्य में कुछ महत्वपूर्ण चीजें पैदा हुई हैं।''* या यह कि *''वित्तीय पूँजी ने वास्तविक उत्पादन में स्वतंत्र होकर''* या यह कि ***''पूँजी का विकास''*** *शेयर बाजारों और जुआघरों का* ***'बाई–प्रोडक्ट'*** *बन जाने के चलते''* (सभी उद्धरण सृजन–परिप्रेक्ष्य, अंक–1, पृष्ठ–259 से, शब्दों पर जोर हमारा)। परन्तु इस आलोचना में हम इन पर कोई टीका–टिप्पणी नहीं कर रहे। ऐसा इसलिए क्योंकि ये सूत्रीकरण इशारा भर हैं, अभी वर्तमान विश्व के राजनीतिक अर्थशास्त्र पर *सृजन–परिप्रेक्ष्य* की कोर टीम ने 'सविस्तार चर्चा' नहीं की है। उक्त सूत्रों या ऐसी अन्य बातों पर टिप्पणी करना तभी उचित होगा जब *सृजन–परिप्रेक्ष्य* की कोर टीम अपनी समझ का खुलासा करने की हिम्मत जुटाये। तब तक हम अपना ध्यान सर्वहारा–पुनर्जागरण व सर्वहारा–प्रबोधन की थीसिस पर ही केन्द्रित रखेंगे।

अपनी आलोचना में हम बतायेंगे कि सांस्कृतिक कार्य वर्तमान समय के क्रान्तिकारी कार्यो में केन्द्रीय कार्यभार नहीं है,कि वर्तमान समय के सांस्कृतिक कार्यो को निरूपित करने के लिए भी सर्वहारा–नवजागरण एवं सर्वहारा–प्रबोधन का सूत्रीकरण राजनीतिक तौर पर गलत है, कि न केवल *सृजन–परिप्रेक्ष्य* द्वारा नवजागरण एवं प्रबोधन की गलत शब्दावली प्रयुक्त की जा रही है बल्कि इस प्रोजेक्ट के तहत जो कार्य किया जा रहा है वह अपनी अर्न्तवस्तु में भी अति–संकुचित है तथा गैर–मार्क्सवादी भटकावों को जन्म देता है।

पुनर्जागरण एवं प्रबोधन के बारे में कुछ सर्व–ज्ञात बातें

यूरोपीय इतिहास में पुनर्जागरण का काल मोटे तौर पर 11वीं शताब्दी से 17वीं शताब्दी के बीच का काल माना जाता है। यूरोपीय इतिहास के बारीक विश्लेषक इस काल की शुरूआत 14वीं सदी में इटली में फ्रांसेस्को पेट्रार्क के साथ मानते हैं और 17वीं सदी के आरम्भ में इंग्लैंड में विलियम शेक्सपीयर के साथ इस काल का अन्त मानते हैं। लियोनार्द द विन्सी, माइकेलेन्जिलो, दांते, लियोनारदो ब्रुनी, कोलिको सलुताती, मेकियाविली, डेसिडेरस इरासमस, मार्तिन लूथर, सेरवांतीस,कोपरनिकस जैसे महामानवों के कर्म के नाम से विख्यात इस काल को मानववाद (humanism) का युग भी कहा जाता है।

प्रबोधन का काल 17वीं सदी के मध्य से 18 वीं सदी के अन्त तक का काल माना जाता है। कुछ विश्लेषक इसे दो क्रान्तियों 1640 की इंग्लिश क्रान्ति और 1789 की फ्रांसिसी क्रान्ति के बीच का काल कहते हैं। मौनतेगन, दिकार्त, गेलिलियो, जोनेथनस्विफ्ट, गोथे, जानलाक, न्यूटन, मौन्तेसक्यू, वालतेयर, दिदेरो, रूसो, कान्त के इस काल को तर्क–बुद्धि का युग (age of reason) भी कहा जाता है।

पुनर्जागरण पवित्र रोमन साम्राज्य (होली रोमन एम्पायर) और पोप के मध्य युग के अन्धकार, ठहराव व सड़ांध और 17 वीं सदी के महान परिवर्तनों के बीच का बहुआयामी युग है। मध्य युग में क्लासकीय ग्रंथों की पढ़ाई–लिखाई और बौद्धिक क्रियाएं चर्च के पादरियों की इजारेदारी बन कर रह गयीं थीं। शेष समाज इन पादरियों द्वारा बताये गये तौर–तरीकों व कर्मकाण्डों के हिसाब से परलोक पर ध्यान केन्द्रित करके जीवन यापन करता था। पुनर्जागरण या मानववाद की सबसे बड़ी

विशेषता यही है कि उसने मध्ययुगीन मूल्यों व संस्थाओं से एक निर्णायक विच्छेद किया। बाईबिल और शेष ज्ञान पर पादरियों की इजारेदारी टूटी।

मानववादियों ने रोम व यूनान के क्लासकीय ग्रन्थों के भंडार से आम आदमी का परिचय करवाया। इसके लिए इन ग्रन्थों की पांडुलिपियों को खोजा गया, आंचलिक भाषाओं व लैटिन में उनका अनुवाद किया गया और 15 वीं सदी के मध्य से गुतेनबर्ग के अविष्कार की मदद से इन्हें बड़ी तादाद में छापा जाने लगा। प्राचीन ज्ञान के इस प्रसार अभियान ने सोये हुए समाज को जगाया, उसे उसकी सभ्यता की जड़ों से परिचित करवाया, और पादरियों के ताने–बाने को बीच से दफा करके लोगों को ईश्वर से सीधे सम्पर्क साधने का रास्ता बताया। परलोक के लिये जीने के बजाय मानववादियों ने इस भौतिक जगत और प्रकृति में इंसान की दिलचस्पी पैदा की । व्यक्ति के वजूद के बारे में और उसकी गरिमा के बारे में एक नई चेतना पैदा हुई। नवजागरण का सार उसकी यथार्थवादी चेतना एवं नयी जीवन शैली में है, मध्य युग के परलोकवाद एवं सदियों के ठहराव से उसके निर्णायक विच्छेद में है। यूरोपीय इतिहास की निरंतरता को बनाये रखना प्राचीन यूनान व रोम की विरासत को खोज निकालना उसका गौण पहलू है। यदि प्राचीन सभ्यताओं से जुड़ना ही इस आन्दोलन का मुख्य पहलू होता तो नवोदित बुर्जुआ वर्ग के लिये यह काम की चीज न होता, हालाँकि यह सही है कि प्राचीन यूनान व रोम से यूरोप के नवोदित बुर्जुआ वर्ग को राजनीति, संस्कृति, अर्थतंत्र के क्षेत्र में अनेक उपयोगी चीजें मिलीं।

सुधार (reformation) 16वीं सदी में ईसाई धर्म के भीतर का वह आन्दोलन है जिसने न केवल प्रोटेस्टेन्टवाद या केल्विनवाद जैसी ईसाइयत की नई शाखाएं पैदा कीं बल्कि कैथलिक चर्च को भी कुछ सुधार करने के लिये बाध्य किया। इस धर्म सुधार आन्दोलन का असर चर्च तक सीमित नहीं था,इसने यूरोप की राजनीति, अर्थतंत्र एवं सांस्कृतिक जगत पर व्यापक प्रभाव डाला। 16वीं सदी में चर्च का सुधार उस मानववादी आन्दोलन की परिणति थी जो कि यूरोप में पिछली तीन शताब्दियों से चला आ रहा था । यह कहना कहीं से भी गलत नहीं है कि मार्टिन लूथर ने उस अण्डे को सेया जिसे डेसिडारियस इरायमस जैसे मानववादियों ने पैदा किया था ।

प्रबोधन–काल मानववादी आन्दोलन की निरंतरता है परन्तु उसमें सामन्तवाद के खिलाफ संघर्ष उच्चतर धरातल पर पहुँच गया। बुर्जुआ वर्ग के लिये राजनीतिक सत्ता का सवाल केन्द्रीय सवाल बनने लगा हालाँकि अंधविश्वास अज्ञान के खिलाफ युद्ध इस युग का अहम एजेन्डा था परन्तु इंसाफ, राजनीतिक नैतिकता, व्यक्ति की स्वतंत्रता, भाईचारा, बराबरी इत्यादि इस युग के मुख्य नारे बनें, यह स्वाभाविक था। और यही हुआ भी। सामंती सत्ताधारियों की स्वेच्छाचारिता से मुक्ति, विशेषाधिकारों की समाप्ति, कानून की निगाह में नागरिकों के लिये बराबरी, एक व्यक्ति एक मत के आधार पर गठित राजनीतिक संस्थाएँ,बोलने, लिखने व अपने मतानुसार जीने की आजादी, ज्ञान–विज्ञान की रोशनी.... ये सब तर्क के इस युग की उपलब्धियाँ हैं।

प्रबोधन काल की समाप्ति के साथ, 19वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में बुर्जुआ वर्ग की प्रगतिशीलता का अन्त हो गया। मानव सभ्यता को आगे ले जाने के लिये अब उसके पास कुछ भी सकारात्मक नहीं था। निजी सम्पत्ति (बुर्जुआ सम्पत्ति) से जुड़ा उसका अस्तित्व उसकी सीमाओं को निर्धारित करने लगा। सम्पत्ति का निजी स्वरूप बराबरी की तमाम कोशिशों को रोज चार लातें लगाता, व्यक्ति को उतनी ही स्वतंत्रता दी जा सकती थी जितने से बुर्जुआ वर्ग की सत्ता खतरे में न पड़े, निजी मालिकाने के कारण पैदा होने वाले तेरे–मेरे के झगड़े भाईचारे को तो अर्थहीन ही बना दे रहे थे, निजी सम्पत्ति की लालच न्याय करने वालों की नैतिकता को ही बचने नहीं दे रही थी । प्रबोधन काल का सारा का सारा आदर्शवाद खोखला साबित हो रहा था और व्यवस्थित कानून,स्वतंत्रता,भाईचारे,बराबरी के नारे के अलावा बुर्जुआ वर्ग को और कुछ सूझता ही नहीं था। वह यथास्थितिवादी हो गया, प्रतिक्रियावादी हो चला क्योंकि उसकी ऐतिहासिक भूमिका 5–7 शताब्दियों के संघर्षो में पूरी हो चुकी थी । दर्शन, राजनीति, अर्थशास्त्र, संस्कृति जीवन के हर क्षेत्र को अब बुर्जुआ आदर्शवाद से आगे जाना था। मानव सभ्यता को पुनः अपने अतीत के साथ एक निर्णायक विच्छेद करना था। 19वीं शताब्दी के मध्य से इस विच्छेद की शुरूआत हुई।

निरंतरता या विच्छेद, कौन ज्यादा महत्वपूर्ण?

वैसे तो चेतना के स्तर पर इस विच्छेद की जमीन फ्रांसिस बेकन के जमाने से ही तैयार हो रही थी परन्तु इसमें एक महत्वपूर्ण पड़ाव तब आया जब जीन ऐतें ग्वीतार्द ने 18वीं सदी के उत्तरार्ध में दक्षिण केन्द्रीय फ्रांस की ज्वालामुखी पहाड़ियों में सुरक्षित जीवाश्मों (fossils) के अध्ययन के आधार पर यह स्थापित कर दिया कि मानव सभ्यता की समय–सारणी वैसी नहीं

है जैसे कि बाइबिल में वर्णित है। 19वीं शताब्दी के भौतिकवादियों ने, जिनमें लुडविग फायरबाख का योगदान विशेष तौर पर उल्लेखनीय है, ने वास्तविक अर्थो में आधुनिक भौतिकवाद की आधारशिलाएँ रखीं। इस सदी के पाँचवे दशक में मार्क्स व एंगेल्स ने इस भौतिकवाद की जड़ अवधारणा को समाप्त कर दिया और प्रकृति एवं समाज के विकास को समझने के लिये द्वन्द्वात्मक–भौतिकवादी पद्धति का संश्लेषण किया। द्वन्द्वात्मक–भौतिकवादी पद्धति के संश्लेषण और 1848 में कम्युनिस्ट पार्टी के घोषणा–पत्र के लिखे जाने के साथ ही मानव सभ्यता के बिलकुल नये एवं सर्वथा भिन्न युग के निर्माण के व्यावहारिक कामों की शुरूआत हो गयी ।

इस युग की इमारतें निजी सम्पत्ति एवं उससे जुड़े व्यक्तिवादी दर्शन की ईंटो से निर्मित नहीं होंगी। यह युग निजी सम्पत्ति एवं उसके व्यक्तिवादी–दर्शन के निषेध के द्वारा निर्मित होगा। सामूहिकता इसका दार्शनिक–सांस्कृतिक आधार है। इस मायने में यह न केवल अपने पूर्ववर्ती युग–बुर्जुआ युग का निषेध है बल्कि यह निजी सम्पत्ति पर आधारित समस्त मानव इतिहास का निषेध है। इसीलिये मार्क्स–एंगेल्स ने बीते युग के साथ इसकी निरंतरता को दिखाने के बजाय, इसकी भिन्नता और विच्छेद के पक्ष को ज्यादा व्याख्यायित किया। बीते युग की क्रांतिकारी विरासत को स्वीकारने, आत्मसात करने व आगे ले जाने के बावजूद यह अकारण नहीं है कि मार्क्स–एंगेल्स ने सर्वहारा के ऐतिहासिक प्रोजेक्ट को सर्वहारा–प्रबोधन या सर्वहारा–पुनर्जागरण की संज्ञा नहीं दी। मार्क्स–एंगेंल्स ने इस ऐतिहासिक प्रोजेक्ट के लिये समाजवाद अथवा साम्यवाद की संज्ञाएँ इस्तेमाल कीं। मार्क्स–एंगेल्स से लेकर अब तक दुनिया के कम्युनिस्ट जब भी सर्वहारा के ऐतिहासिक मिशन की संस्कृति, उसके दर्शन, उसकी राजनीति, उसके अर्थशास्त्र की चर्चाएँ करते हैं,तो वे बुर्जुआ की सर्वश्रेष्ठ संस्कृति, मानवतावादी से मानवतावादी दर्शन, उदार से उदार राजनीति या कल्याणकारी से कल्याणकारी अर्थतंत्र से अपने पार्थक्य व भिन्नता को स्थापित करते हैं।

भिन्नताओं को उजागर करने में अथवा उन्हें धूमिल करने मे शब्दों के चयन की अहम भूमिका होती है। उदाहरण के लिये मार्क्स–एंगेल्स सर्वहारा युग की राजसत्ताओं के लिये बेहतर जनवाद, विस्तृत जनवाद, असली जनवाद, मुकम्मिल गणतंत्र, जैसी संज्ञाएँ इस्तेमाल कर सकते थे लेकिन उन्होंने ऐसा किया नहीं। उन्होंने सर्वहारा की राजसत्ताओं के लिए 'सर्वहारा की तानाशाही' संज्ञा स्थापित की। ऐसा क्यों? क्योंकि यह संज्ञा बुर्जुआ सत्ता एवं सर्वहारा सत्ता के बीच के मतभेद को तीखे रूप में अभिव्यक्त कर देती है और बुर्जुआ राजसत्ता के वर्ग–चरित्र को बेपर्दा कर देती है,यह संज्ञा सर्वहारा राजसत्ता के अर्थ को सबसे घनीभूत रूप में अभिव्यक्त करती है। सर्वहारा जनवाद अथवा सर्वहारा गणतंत्र जैसे शब्द यदि मार्क्स–एंगेल्स की रचनाओं में कहीं भूले–बिसरे मिल भी जाये तो वे ऐसे सूत्रीकरण नहीं हैं जिन्हें उन्होंने स्थापित किया हो। 1871के पेरिस कम्यून के बाद तो 'सर्वहारा की तानाशाही' संज्ञा ही स्थापित की गयी। आज भी अन्तर्राष्ट्रीय कम्युनिस्ट आन्दोलन के भीतर से कोई यदि इसे किसी और संज्ञा से विस्थापित करने का प्रयास करे तो उसके खिलाफ कम्युनिस्ट अपनी तलवारें निकाल लेते हैं। ऐसी प्रतिक्रिया बिलकुल सही है। क्योंकि बुर्जुआ सभ्यता से अपने विच्छेद को तीखा कर ही कम्युनिस्ट आन्दोलन मजबूत हो सकता है और आगे बढ़ सकता है। बुर्जुआ सभ्यता से अपने भेद को धूमिल करके कम्युनिस्ट आंदोलन कमजोर ही होगा ।

साम्यवादी समाज के निर्माण के वृहद प्रोजेक्ट के तहत सांस्कृतिक कार्यभारों को अभिव्यक्त करने के लिये भी सर्वहारा–पुनर्जागरण या सर्वहारा–प्रबोधन जैसी शब्दावली को स्थापित करने के बजाय अन्तर्राष्ट्रीय कम्युनिस्ट आन्दोलन सर्वहारा संस्कृति, समाजवादी संस्कृति, समाजवादी यथार्थवाद, साम्यवादी मूल्य इत्यादि संज्ञाएँ इस्तेमाल करता रहता है। इनके इस्तेमाल में बुर्जुआ सभ्यता से जुड़ाव (निरंतरता) के बजाय उससे सर्वहारा के सांस्कृतिक कार्यो व लक्ष्यों की दूरी, पार्थक्य का बोध अधिक होता है। यह सही है और जरूरी भी है। पुरानी स्थापित शब्दावली को तभी बदला जाना चाहिये जब नये शब्द हमारे कार्यभारों को ज्यादा सटीक तरीके से अभिव्यक्त करते हों। यदि नये शब्द वर्ग–भेद को धूमिल करते हों तो उनका कतई इस्तेमाल नहीं किया जाना चाहिये। ऐसा काम वही करेगा जिसके लिये दरअसल कार्यभार ही बदल गया हो। नवजागरण एवं प्रबोधन जैसे शब्दों का इस्तेमाल बुर्जुआ सभ्यता से निरंतरता को अभिव्यक्त करता है न कि विच्छेद के पहलू को ।

यह सही है कि साम्राज्यवाद के युग में दाखिल होने के बाद से बुर्जुआ पूर्णतः पतित हो गया है और उसकी संस्कृति पूर्णतः सड़–गल चुकी है। वह अपना मानववादी पहलू पूर्णतः खो चुकी है और बुर्जुआ को ज्ञान–विज्ञान के प्रसार से भी अब डर लगता है। यह बात पूरी 20वीं सदी के लिये सच रही है और आज भी सच है। परन्तु इस सच्चाई के आलोक में लेनिन, माओ या तीसरे इंटरनेशनल ने मार्क्स–एंगेल्स द्वारा निरूपित मुख्य सांस्कृतिक कार्यभार को बदला नहीं। वे मार्क्स–एंगेल्स के दिखाये रास्ते पर आगे बढ़ते रहे। सर्वहारा–नवजागरण अथवा सर्वहारा–प्रबोधन जैसे जुमलों को स्थापित करके मानवतावाद, सहिष्णुता, व्यक्तिकेन्द्रितता इत्यादि के प्रति नर्मी पैदा करनें की गलती 20वीं सदी के कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों ने नहीं की।

20वीं सदी के कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों ने सीधे–सीधे सर्वहारा संस्कृति का परचम बुलन्द किया ––सहिष्णुता एवं मानवतावाद को रद्द करते हुए वर्ग हितों की बातें कीं, ज्ञान–विज्ञान की चकाचौंध से अभिभूत हो जाने के बजाय इसकी वर्गीय पक्षधरता का सवाल उठाया, प्रत्यक्ष मानवीय अनुभवों एवं तर्कणा पर आधारित इन्द्रियग्राह्य व बुद्धिसंगत ज्ञान से आगे बढ़कर क्रान्तिकारी व्यवहार के जरिये उच्चतर ज्ञान हासिल करने का सवाल उठाया इत्यादि–इत्यादि। दूसरे शब्दों में साम्राज्यवाद के युग की सड़ान्ध को देखकर 20वीं सदी के कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों ने बुर्जुआ सभ्यता के स्वर्ण युग को याद करने के बजाय बुर्जुआ संस्कारों व बुर्जुआ दर्शन से अपने विच्छेद को ही और आगे बढ़ाया। बुर्जुआ सभ्यता की सड़ान्ध को बेपर्दा करने के साथ–साथ कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों ने उस सभ्यता की महानतम उपलब्धियों की सीमाओं व विकारों को भी उजागर करने में कोई कोर–कसर नहीं छोड़ी क्योंकि बुर्जुआ के स्वर्ण युग से अपनी कड़ी जोड़ने के बजाय वे सर्वहारा क्रान्तियों की निरंतरता को मजबूत करना चाहते थे। 20वीं सदी के कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी जानते थे कि उन्हें भविष्य से ताकत पानी है न कि मानव सभ्यता के अतीत से। उन्होंने मार्क्स की इस बात को आत्मसात किया था कि *''उन्नीसवीं शताब्दी की सामाजिक क्रान्ति अतीत से नहीं वरन भविष्य से अपनी प्रेरणा प्राप्त कर सकती है। वह उस समय तक अपना समारंभ नहीं कर सकती जब तक अतीत सम्बन्धी अपने सभी मूढ़ विश्वासों को दूर न कर ले। पहले की क्रान्तियों को स्वयं अपनी अर्न्तवस्तु के सम्बन्ध में अपने को मदहोश करने के लिये विगत विश्व इतिहास की स्मृतियों की आवश्यकता पड़ती थी। उन्नीसवीं शताब्दी की क्रान्ति के लिये जरूरी है कि अपनी अन्तर्वस्तु प्राप्त करने के लिये जो बीत गया है उसे भुला दे। पहली क्रान्तियों के नारे उनकी अन्तर्वस्तु से आगे निकल गये थे; यहाँ अंतरवस्तु नारों से आगे निकल जाती है।''* (मार्क्स–एंगेल्स संकलित रचनाएँ, खण्ड 1, भाग–2, प्रगति प्रकाशन, मास्को, ' लुई बोनापार्त की अठारहवीं ब्रुमेर ', पृष्ठ–133)

सृजन–परिप्रेक्ष्य की दलींलें

सृजन–परिप्रेक्ष्य की कोर–टीम यह सफाई देगी कि वह इतने वृहद परिप्रेक्ष्य के लिये सर्वहारा–पुनर्जागरण एवं सर्वहारा–प्रबोधन की थीसिस दे ही नहीं रही है। वह तो उस अवस्था के लिये ये कार्यभार प्रस्तुत कर रही हैं जब सर्वहारा क्रान्ति का एक चक्र पूरा हो चुका है और दूसरा अभी शुरू होना है, कि विपर्यय, पुनरूत्थान व संक्रमण के इस विशिष्ट दौर के लिये ही यह थीसिस दे रही हैं कि जैसे ही सर्वहारा क्रान्ति का चक्र पुनः शुरू हो जायेगा वह इसे ठंडे बस्ते में डाल देगी। वह आगे फरमायेगी कि वे बुर्जुआ सभ्यता के बजाय सर्वहारा क्रान्तियों की उपलब्धियों को याद करने के लिये तथा वर्ग–शत्रुओं द्वारा फैलायी जा रही भ्रान्तियों व झूठे–प्रचारों से निपटने के लिये सर्वहारा–नवजागरण की थीसिस दे रही है। ऐसे ही वह सर्वहारा क्रान्ति के पहले चक्र के बाद विपर्यय की अवस्था से उबरने,आगे की रणनीति तय करने और जन–शिक्षा तथा क्रान्तिकारी चेतना के प्रचार–प्रसार के लिये सर्वहारा प्रबोधन की थीसिस पेश कर रही है।

अगर वह सर्वहारा क्रान्ति के दो चक्रों के बीच के विशिष्ट दौर में भी ऐसा कर रही है तब भी यह गलत है। यदि वह अकेले ही इस दलदल में जाना चाहती तब भी हम उसे जाने से रोकते। लेकिन वह तो भारत के समस्त कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों के लिये ही नहीं बल्कि पूरी दुनिया के कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों के लिये एक आम थीसिस दे रही है (कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों के लिये ही यह थीसिस है, इसमें कोई शक नहीं क्योंकि सम्पादकीय आलेख का दूसरा वाक्य ही यह है कि *"हम सर्वहारा क्रान्ति की पक्षधर अवस्थिति से यह बात कर रहे हैं।"*)। ऐसे में बात और खतरनाक हो जाती है क्योंकि वह न केवल आत्महत्या करेंगी बल्कि सामूहिक हाराकारी भी करवायेगी ।

सर्वप्रथम बात यह है कि इतिहास मध्ययुगीन यूरोप की भाँति सदियों की नींद नहीं सो रहा है कि उसे जागृत करना पड़े। ऐसा भी नहीं है कि समस्त मानव ज्ञान मध्ययुगीन यूरोप के पादरियों की तरह शासक वर्ग के अभिलेखागारों में कैद कर दिया गया हो जिसे पाने के लिये अपनी जड़ों की खोज करनी पड़े। अभी ढाई से तीन दशक पहले ही तो सर्वहारा वर्ग, मानव इतिहास का सबसे उन्नत सामाजिक प्रयोग 'महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति' कर रहा था। आज की गतिशील एवं उन्नत उत्पादक शक्तियों की दुनिया में इतने कम समय में सर्वहारा वर्ग को उसकी विरासत से काटा और सदियों जैसी मदहोशी में सुलाया नहीं जा सकता है। यह सम्भव है कि इन ढाई से तीन दशकों में *सृजन–परिप्रेक्ष्य* के सम्पादकगणों की आंखो पर चर्बी छा गयी हो और उन्हें कई अन्य ऐब लग गये हों, लेकिन अन्तर्राष्ट्रीय सर्वहारा इतनी आसानी से मदहोशी का शिकार होने वाला नहीं है। पहले चक्र की क्रान्तियों के विपर्यय के बावजूद अंन्तर्राष्ट्रीय सर्वहारा संघर्ष करता रहा है और संगठनबद्ध होने की कोशिशें करता रहा है। विश्व सर्वहारा क्रान्ति की निरंतरता को उसने टूटने नहीं दिया है। अपनी विरासत से वह महरूम

नहीं हुआ है। इन ढाई से तीन दशकों में दुनिया के कम्युनिस्ट डटे रहे हैं और क्रान्तियों की समस्याओं से जूझते रहे हैं, भले ही वे इन्हें हल करने में सफल हुए हों या न हुए हों। *सृजन–परिप्रेक्ष्य* की कोर–टीम,ऐसे जागे हुए लोगों को पुनः जागृत करने के बहाने यदि उन्हें चिकोटियाँ काटेगी तो वह उल्टे हाथ का थप्पड़ खायेगी। हाँ, यह बात अपनी जगह सही है कि आज क्रान्तिकारी आन्दोलन में केवल सर्वहारा के हिरावल दस्ते ही मूलतः सक्रिय हैं, कि कुछ अपवाद देशों को छोड़ कर शेष दुनिया में सर्वहारा व अन्य मेहनतकश वर्गों के बड़े हिस्से आज सड़कों पर नहीं हैं परन्तु ऐसा तो किसी भी वर्ग के संघर्षो की दो लहरों के बीच सामान्य तौर पर होता है। 1848–49 से लेकर 1871 के बीच समस्त सर्वहारा वर्ग की राजनीतिक सक्रियता एक जैसी नहीं थी । समस्त वर्ग या तो 1848–49 में सड़कों पर था या 1871में। परन्तु ऐसा नहीं हुआ कि 1850–51 में मार्क्स–एंगेल्स ने पुनर्जागरण का आह्वान कर दिया हो। जो सोया न हो, केवल अपने घर व फैक्ट्री में सिमट गया हो उसे पुनर्जागृत करने की गलती मार्क्स–एंगेल्स नहीं कर सकते थे। वर्तमान दौर क्रान्ति की दो लहरों के बीच का अन्तराल नहीं है, यह भी सही है। यह सर्वहारा क्रान्ति के दो ज्वारों के बीच का भाटा है,मगर तब भी इस भाटा में सर्वहारा सोया कब है कि उसे मध्य युगीन यूरोप की भाँति पुनर्जागृत करना पड़े।

दूसरी बात भी गलत है कि सर्वहारा क्रान्ति के दो चक्रों के बीच के इस दौर में सांस्कृतिक मोर्चे पर कार्य आज क्रान्ति का केन्द्रीय कार्यभार हो गया है। अपनी बात की पुष्टि के लिये *सृजन–परिप्रेक्ष्य* की कोर–टीम हमें कई झांसे देती है। इनमें से एक यह कि यूरोप में प्रबोधन काल में बुर्जुआ वर्ग के संघर्ष का मुख्य मोर्चा संस्कृति का क्षेत्र था। एक बार के लिये कोई पुनर्जागरण काल के लिये तो शायद इस बात को मान भी ले, लेकिन 16वीं सदी के उत्तरार्ध एवं 17वीं सदी के तूफानी दौर के लिये इस बात को कैसे मानें जब साफ दिखाई दे रहा हो कि बुर्जुआ वर्ग के लिये केन्द्रीय मुद्दा सत्ता–दखल है, जब सामाजिक संविदा (Social Contract) और व्यक्ति के अधिकार (Rights of Man) जैसे दस्तावेज लिखे जा रहे हों और बादशाहों के सर कलम किये जा रहे हों। इस बात पर तो शायद बहस हो सकती है कि क्या नवजागरण काल का प्रातिनिधिक आविष्कार चल–टाइप छापा–खाना है या नहीं, परन्तु इस बात पर शायद कम ही बहस होगी कि गिलोटीन प्रबोधन–काल के मूल भाव का प्रतिनिधित्व करने के लिये सबसे सटीक अविष्कार है।

सृजन–परिप्रेक्ष्य की कोर–टीम हमें आगे यह बताती है कि मौजूदा स्थिति के वस्तुगत मूल्यांकन से यह निष्कर्ष निकलता है कि *''आज संस्कृति का क्षेत्र विचारधारात्मक संघर्ष का केन्द्रीय रणांगन बना हुआ है''* (सृजन–परिप्रेक्ष्य, अंक 1, पृष्ठ 265)। वस्तुगत मूल्यांकन के नाम पर जो परोसा गया है वह इतना ही कि राजनीति, अर्थशास्त्र एवं दर्शन के क्षेत्रों में जो हमला है वह पुराने का दोहराव भर है। मुख्य हमला संस्कृति के क्षेत्र में हो रहा है,यहीं बुर्जुआ वर्ग कुछ नई बातें कर रहा है मसलन उत्तर–आधुनिकतावाद, उत्तर–संरचनावाद, उत्तर–मार्क्सवाद, उत्तर–मार्क्सवादी नारीवाद, प्राच्यवाद, सब आल्टर्न इतिहास लेखन आदि, इसीलिये सांस्कृतिक क्षेत्र विचारधारात्मक संघर्ष का केन्द्रीय रंगाणन बना हुआ है। इस निष्कर्ष पर अपना मत प्रकट करने के पहले, तर्क की उलझनों को खोलने के पहले, हम *सृजन–परिप्रेक्ष्य* की कोर–टीम से यह पूछना चाहेंगे कि 'आप कब से मानते हैं कि विचारधारात्मक संघर्ष का केन्द्रीय रणांगन सांस्कृतिक क्षेत्र बन गया है?' ऐसी 'मासूमियत' हम इसलिये प्रदर्शित कर रहे हैं क्योंकि हमारी जानकारी के मुताबिक 1990 तक तो ये लोग यही मानते रहे है कि विचारधारात्मक संघर्ष का मुख्य रणांगन सर्वहारा राजनीति और दर्शन है, कि बुर्जुआ वर्ग द्वारा सर्वहारा राजनीति और दर्शन पर इस सघन हमले की शुरूआत 1956 से मानी जानी चहिए, कि सर्वहारा राजनीति व दर्शन की हिफाजत कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों का सबसे अहम कार्यभार है, कि 1977 के बाद यह हमला और तेज हो गया है और चुनौती और कठिन। ऐसे में हमारे लिये यह जिज्ञासा का विषय है कि 1990 के दशक में विश्व परिस्थिति में ऐसा कौन सा सुधार हो गया कि सर्वहारा दर्शन व राजनीति पर बुर्जुआ का हमला ढीला पड़ जाये और संस्कृति जैसे गौण व दूसरे दर्जे के क्षेत्र पर बुर्जुआ अपनी तोपें दागने लगे? जहाँ तक नये या पुराने का सवाल है कि बुर्जुआ वर्ग दर्शन व राजनीति के क्षेत्र में तो कुछ नया कर पाने में असफल है लेकिन संस्कृति के क्षेत्र में कुछ नया कर पाने की क्षमता उसने ययाति कि भाँति कहीं से यकायक हासिल कर ली है, तो यह बात भी ठीक नहीं है। हम *सृजन–परिप्रेक्ष्य* की कोर–टीम को याद दिलाना चाहेंगे कि 1956 से लेकर 1977 तक और उसके बाद के काल में भी सर्वहारा राजनीति व दर्शन के विरूद्ध बुर्जुआ वर्ग कुछ नया नहीं कर रहा था, वह मूलतः पुरानी बातों को ही दोहरा रहा था, टुच्चे किस्म के षडयंत्र व कुत्सा प्रचार ही कर रहा था लेकिन इसके बावजूद उसका हमला बहुत तीखा रहा है। हमले की तीक्षणता शस्त्रों के नयेपन से ही तय नहीं होती। इतिहास का कोई ऐसा वर्ग जो जमाने पहले प्रतिक्रियावादी हो चुका हो,सामान्यतःजीवन के हर क्षेत्र (चाहे वह राजनीति हो, दर्शन हो, अर्थशास्त्र हो, संस्कृति हो) में ही कुछ भी मौलिक कर पाने की क्षमता खो चुका होता है। जिज्ञासावश हम *सृजन–परिप्रेक्ष्य* की कोर–टीम से यह जानना चाहेंगे कि बुर्जुआ द्वारा उत्तर–आधुनिकतावाद के समग्र अभियान में उन्हें ऐसी कौन सी नयी मौलिक चीजें दिखाई पड़ गयी हैं जिन्हें शेष दुनिया के अन्य कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी नहीं देख पाये? बहरहाल हमें 1990 के दशक की परिस्थिति में ऐसा कोई महत्वपूर्ण परिर्वतन,सुधार नहीं दिखाई देता जिस कारण बुर्जुआ अपने हमले का केन्द्रीय लक्ष्य सर्वहारा राजनीति को न बनाये। हम अभी भी पुराने

मूल्यांकन को ठीक मानते हैं और हमारे लिये अभी भी विचारधारात्मक वर्ग–संघर्ष में सर्वहारा–राजनीति और विचारधारा की हिफाज़त ही मुख्य बात है और इसकी पूर्ति के लिये भारत में एक क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट पार्टी का गठन केन्द्रीय कार्यभार है, न कि साहित्यकारों–अनुवादकों–रंगकर्मियों की मंडली का निर्माण ।

तीसरे, यह कि *सृजन–परिप्रेक्ष्य* द्वारा प्रस्तुत कार्यभारों की फेहरिस्त में, वर्ग–शक्तियों के विन्यास एवं परिस्थिति के समूचे बयान में या सर्वहारा–नवजागरण एवं सर्वहारा–प्रबोधन के मुकम्मिल प्रोजेक्ट में कहीं भी कम्युनिस्ट पार्टी की केन्द्रीय भूमिका का कोई जिक्र नहीं है। पूरी थीसिस में कम्युनिस्ट पार्टी का जिक्र प्रसंगवश ही है। सर्वहारा–नवजागरण एवं सर्वहारा–प्रबोधन के प्रोजेक्ट में इसका स्थान हाशिए पर ही है। यह हमारे लिये आश्चर्यजनक है, परन्तु इसे हम भूल या स्लिप–आफ–पैन मानने को तैयार नहीं हैं। इतनी बड़ी और इतनी महत्वपूर्ण बात भूली नहीं जाती। कम्युनिस्ट पार्टी सर्वहारा का सबसे अग्रिम दस्ता एवं उसके संगठन का उच्चतम् रूप होती है। उसके लिये अपनी योजना में भूमिका ही न निर्धारित करने का मतलब बहुत साफ तौर पर कम्युनिस्ट पार्टी रहित क्रान्ति की परिकल्पना है। साम्राज्यवाद और सर्वहारा क्रान्तियों के युग में इसकी गुजांइश नहीं है। लेनिनवाद, बिना कम्युनिस्ट पार्टी के सर्वहारा क्रान्ति की अवधारणा को खारिज करता है। ऐसी अवधारणा को बनाये रखने पर *सृजन–परिप्रेक्ष्य* की टीम को दूसरे, ढाइवें अथवा चौथे इंटरनेशनल के वारिसों की बिरादरी में भी स्थान नहीं मिलेगा। उन्हें उत्तर आधुनिक मार्क्सवादियों का साथ ढूंढना पड़ेगा। चूँकि *सृजन–परिप्रेक्ष्य* के सम्पादकीय आलेख के अलावा इनके द्वारा अपने सर्वहारा–नवजागरण एवं सर्वहारा–प्रबोधन प्रोजेक्ट पर कोई और ज्यादा विकसित अवधारणा–पत्र हमें या देश के कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों को नहीं दिया गया है जिसमें इस प्रोजेक्ट एवं कम्युनिस्ट पार्टी के अन्तर–सम्बन्धों की चर्चा की गयी हो, इसलिए हमने उक्त गम्भीर संदेह व्यक्त किया है।कोर–टीम का चिंतन एवं परेशानियां जो भी रही हों, कम से कम ठोस व्यवहार तो यही दिखा रहा है कि यह सब कुछ कम्युनिस्ट पार्टी की कीमत पर किया गया है। और अब तो उनके द्वारा वैचारिक थीसिस भी यही प्रस्तुत की जा रही है कि क्रान्ति के इस दौर का केन्द्रीय कार्यभार सांस्कृतिक कर्म है। ऐसे में हमारी सदिच्छाओं के बावजूद सम्भावना तो यही दिख रही है कि सर्वहारा का राजनीतिक संगठन खड़ा करने तथा जन–आन्दोलन व जन–संघर्षो के जरिये सर्वहारा समेत व्यापक मेहनतकश जनता को क्रान्ति के लिये लामबंद करने के बजाय ये किसी सांस्कृतिक संगठन के निर्माण में अपनी तथा अपने साथियों की ऊर्जा खपायेंगे। हमारी सदिच्छा यही है कि ये साथी अपनी पटरी बदलें और सर्वहारा राजनीति की हिफाज़त व कम्युनिस्ट पार्टी गठन के कार्यभार की केन्द्रीयता को स्वीकारें।

चौथी बात यह है कि बुर्जुआ के उत्तर–आधुनिकता अभियान को मूलतः सांस्कृतिक क्षेत्र की परिघटना मान कर *सृजन–परिप्रेक्ष्य* की कोर–टीम एक बहुत बड़ी सैद्धान्तिक गलती कर रही है। उत्तर–आधुनिकतावाद के प्रोजेक्ट के तहत बुजुर्आ समूचे मार्क्सवाद पर द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद, ऐतिहासिक–भौतिकवाद,राजनीति, संस्कृति इत्यादि सभी क्षेत्रों में एक मुकम्मिल हमला कर रहा है। वैसे उत्तर–आधुनिकतावाद के प्रोजेक्ट से इतर भी वह ऐसा चौतरफा हमला कर रहा था और अन्य विचारधाराओं के तहत यह अब भी जारी है। ऐसी स्थिति में उत्तर–आधुनिकतावाद के हमले को मुख्यतः सांस्कृतिक क्षेत्र में देखने पर हम मार्क्सवाद की हिफाजत के लिये पूरी तरह आगे नहीं आ पायेंगे। वस्तुतः हम ढेर सारी चौकियों को छोड़कर (और सर्वहारा राजनीति व दर्शन की मुख्य चौकी को छोड़कर) सांस्कृतिक चौकी पर ही अपनी शक्तियां केन्द्रित कर रहे होंगे। यह लड़ाई हारने का पक्का फार्मूला होता है। यदि कभी पीछे हटना भी पड़े और किन्हीं चौकियों की कुर्बानी देनी ही पड़े तब भी मुख्य चौकी असुरक्षित नहीं छोड़ी जाती ।

हमारा आरोप मात्र इतना नहीं है कि सर्वहारा–नवजागरण एवं सर्वहारा–प्रबोधन की बातें जब *सृजन–परिप्रेक्ष्य* की कोर टीम करती है तो वह गलत शब्दों का प्रयोग कर रही है, कि उसका सूत्रीकरण वस्तुनिष्ठता एवं वैज्ञानिकता की कसौटी पर खरा नहीं उतरता। इससे कहीं बढ़कर हमारा आरोप यह है कि सर्वहारा–नवजागरण एवं सर्वहारा–प्रबोधन के बैनर तले जो किया जा रहा है,वही ठीक नहीं है। इसका एहसास तब और होता है जब हम उन जिम्मेदारियों पर गौर करते हैं जिन्हें सांस्कृतिक कर्म को केन्द्रीय कार्यभार मानने के कारण या तो अनदेखा किया जा रहा है या फिर बहुत कम मात्रा में किया जा रहा है। यदि *सृजन–परिप्रेक्ष्य* से जुड़े साथी साहित्कार–रंगकर्मी मार्का लोग ही होते या फिर इस पत्रिका की कोर टीम किसी क्रान्तिकारी संगठन की कोर न होकर उसके समर्थकों/शुभेच्छुओं की कोई टीम होती तब यह सब चलता रह सकता था। तब यह संस्कृतिवादी भटकाव न होता। तब इन सब की सार्थकता भी हो सकती थी क्योंकि तब मूल संगठन क्रान्ति की केन्द्रीय जिम्मेदारियों को उठा रहा होता। आज जब सर्वहारा–नवजागरण एवं सर्वहारा–प्रबोधन के प्रोजेक्ट को संगठन का केन्द्रीय कार्यभार मान लिया गया है तब ये बातें उन्हीं के शब्दों में "इतिहास के लिये कुछ कार्यस्थगन–प्रस्ताव" बन जाती हैं। तब सर्वहारा–पुनर्जागरण एवं सर्वहारा–प्रबोधन की थीसिस दरअसल इंकलाब के मुख्य कार्यभारों से एवं इंकलाब की चुनौतियों से किनाराकशी है ।

राजनीतिक सवालों के 'सांस्कृतिक' सूत्रीकरण के कुछ बुरे नतीजे

हम कह चुके हैं कि *सृजन–परिप्रेक्ष्य* की कोर टीम की लाइन मात्र व्यवहार में विकृतियों , भटकावों को जन्म नहीं दे रही है (आज की विषम परिस्थितियों में किसी भी छोटे संगठन के लिये इन से बच पाना लगभग असम्भव है), बल्कि इससे कहीं संगीन मामला यह है कि वह सैद्धान्तिक तौर पर भी गलत है। इस लाइन को सूत्रित हुए अभी जुम्मा–जुम्मा दो दिन ही हुए हैं कि वैचारिक दायरे में भी इसकी कमियाँ साफ–साफ उजागर होनी शुरू हो गयी हैं। इन्हें दिखाने के लिये हम उनके जन–कार्यों के पर्चों, जन–अखबार/जन–पत्रिका के लेखों अथवा किसी अन्य जन–साहित्य का उल्लेख नहीं करेंगे (यहां हम आवश्यक रियायत देकर ही मूल्यांकन करते हैं) इसके लिये हम *सृजन–परिप्रेक्ष्य* के प्रवेशांक के सम्पादकीय आलेख को ही लेगें। सम्पादकीय आलेख में साम्प्रदायिकता, जाति–सवाल एवं नारी–सवाल जैसे विशुद्ध राजनैतिक सवालों को भी सांस्कृतिक सवालों के रूप में पेश किया गया है। इन प्रश्नों पर उनकी अवस्थिति का रूप यदि सांस्कृतिक होता और यदि अन्तर्वस्तु ठोस राजनीतिक होती तब हम इतनी ही आलोचना करते कि रूप को जल्दी ठीक कर लो वरना आने वाले दिनों में यह अन्तर्वस्तु को संकुचित एवं विकृत करेगा। लेकिन हम देख रहे हैं कि जो भविष्य में होना था वह अभी से होने लगा है। रूप ने अन्तर्वस्तु पर अभी से नकारात्मक प्रभाव डालने शुरू कर दिये है। *सृजन–परिप्रेक्ष्य* के प्रवेशांक के पृष्ठ 268 से लेकर पृष्ठ 272 पर साम्प्रदायिकता, दलित–प्रश्न, स्त्री–प्रश्न पर प्रस्थापनाएँ प्रस्तुत की गयी हैं। इन्हें इसी क्रम में हम बारी–बारी से लेगें। इन तीनों मुद्दों पर सम्पादकीय आलेख की अवस्थिति की खास बात यह है कि प्रस्तुति की शैली आलोचनात्मक है, यहाँ तक की उप–खण्डों के शीर्षकों में भी *''..पर सही क्रान्तिकारी रणनीति अपनाओ।'' ''..पर सही रूख अपनाओ।''* जैसी शब्दावली का प्रयोग है। चूँकि *सृजन–परिप्रेक्ष्य* ने दूसरों की कमियों/गलतियों की आलोचना द्वारा अपनी सही लाइन को स्थापित करने की कोशिश की है इसलिए हमें पूरा अधिकार है कि हम उनकी बातों को संजीदगी से लें और उनकी कमियों के आलोक में उनका मूल्यांकन करें।

धार्मिक कट्टरपन्थी फासीवाद के विरोध में प्रस्तुत *'सही क्रान्तिकारी रणनीति'* की महत्वपूर्ण बात यह है कि इसमें साम्प्रदायिक–फासीवाद और भारतीय राजसत्ता के अन्तर्सम्बन्धों की व्याख्या गायब है, जबकि किसी भी सामाजिक परिघटना की मार्क्सवादी प्रस्तुति से यह न्यूनतम उम्मीद की जाती है। पूरे उपखण्ड में न तो भारतीय राजसत्ता के 'धर्म–निरपेक्ष'/अर्ध धर्म–निरपेक्ष चरित्र पर कोई टिप्पणी है, न ही विगत दशक में उसके सचेत और संगठित हिन्दूकरण को संज्ञान में लिया गया है। भारत में साम्प्रदायिक प्रश्न की यदि कोई सही समझ बनानी है तो वोट–राजनीति से उसके अन्तरसम्बन्धों को अनदेखा करना एवं पूंजीवादी संकट से जनता का ध्यान भटकाने में इसकी भूमिका को अनदेखा करना कतई गलत है। सम्पादकीय आलेख इसका कोई प्रयास नहीं करता। सम्पादकीय आलेख में साम्प्रदायिक प्रश्न की प्रस्तुति इतनी गैर राजनीतिक है कि इसमें विगत दिनों के अंधराष्ट्रवाद का जिक्र तक नहीं है, साम्प्रदायिकता और इसके अन्तरसम्बन्धों की व्याख्या तो दूर। हम यह मानने को तैयार नहीं हैं कि स्थानाभाव के कारण ऐसा खुलासा नहीं किया गया, कि वैसे भी फासीवाद में अंधराष्ट्रवाद अन्तर्निहित होता है इत्यादि। हम ऐसा इसलिये नहीं मानेंगे क्योंकि स्थान कि कमी नहीं है। यदि भगवान सिंह जैसे रचनाकार की पसलियों में कोहनी मारने के लिये एक पूरा पैराग्राफ दिया जा सकता है तो स्थान की कोई कमी नहीं है,समस्या नजर की है। यदि नजर साहित्यकारों वाली न होती बल्कि सर्वहारा राजनीतिज्ञों की होती तो उन्हें कारगिल युद्ध की अहमियत दिखाई देती और उन्हें यह भी पल्ले पड़ता कि क्यों फासीवाद जैसी सामान्य शब्दावली का प्रयोग अपर्याप्त है, कि क्यों विशिष्ट तौर पर भारतीय शासक वर्ग के अंधराष्ट्रवाद के खिलाफ सर्वहारा एवं मेहनतकश वर्गों को खड़ा करना निहायत जरूरी है।

हमें यह अच्छा लगा कि सम्पादकीय आलेख ने 'सर्वधर्म समभाव' एवं नेहरू के' समाजवाद' की सीमाएं बतायीं। हमें यह भी ठीक लगा कि सम्पादकीय आलेख ने सच्चे वामपंथी संस्कृतिकर्मियों का आहवान किया कि वे रस्मी सामाजिक जनवादी संशोधनवादी विरोधों से आगे निकल कर फासीवाद का सार्थक विरोध करें। परन्तु यहाँ महत्वपूर्ण सवाल यह है कि क्यों सम्पादकीय आलेख साम्प्रदायिक–फासीवाद के सवाल पर क्रान्तिकारी अवस्थिति एवं संशोधनवादी अवस्थिति के बीच स्पष्ट विभाजक रेखा नहीं खींच सका? ऐसा इसलिए हो रहा है क्योंकि साम्प्रदायिक प्रश्न की उसकी प्रस्तुति राजनीतिक न होकर सांस्कृतिक है। यदि वह प्रश्न की राजनीतिक प्रस्तुति करता तो वह निस्संदेह अंधराष्ट्रवाद को अपने संज्ञान में लेता, और जैसे ही वह यह करता वैसे ही कम्युनिस्ट अवस्थिति और संशोधनवादी अवस्थिति आमने–सामने खड़ी हो जातीं। सी.पी.एम. सामान्यतः फासीवाद के विरोध में तो बातें करती रह सकती है लेकिन कारगिल युद्ध में भारतीय राजसत्ता के खिलाफ अवस्थिति नहीं ले सकती ।

सृजन–परिप्रेक्ष्य की कोर–टीम से हमारा कहना है कि चूँकि उसने साम्प्रदायिकता जैसे विशुद्ध राजनीतिक प्रश्न को मूलतः सांस्कृतिक प्रश्न तक सीमित करने की गलती की है इसलिए ऐसा नहीं हो सकता कि आने वाले दिनों में वह अपने आप को 'सहमत' जैसे संगठन में तबदील होने से बचा सके। ऐसे में, हमारी और उनकी इच्छा के बावजूद होगा यही कि वे आज जिस रस्मी, प्रतीकात्मक, कुलीनतावादी प्रतिरोध को नापसंद करते हैं, वस्तुगत तौर पर वे उसी की सीमाओं में कैद होकर रह जायेंगे।

साम्प्रदायिक प्रश्न की प्रस्तुति की तरह ही दलित–प्रश्न की प्रस्तुति में भी *सृजन–परिप्रेक्ष्य* का सम्पादकीय आलेख अपनी मुख्य गलती को दोहराता है। वह दलित–प्रश्न पर अपनी बातों में वर्ग–अपचयनवाद एवं वर्ग–निषेधवाद दोनों भटकावों का विरोध तो करता है परन्तु स्वयं भारतीय राजसत्ता एवं दलित समस्या के अंतरसम्बन्धों की जांच–पड़ताल करने की जहमत नहीं उठाता। उसकी टिप्पणी दलित साहित्यकारों की व्यवस्थापरस्ती एवं अम्बेडकर के सुधारवाद पर अपनी बन्दूक तो साधती है परन्तु इतने पर ही रूक जाती है। *सृजन–परिप्रेक्ष्य* की सीमाएँ स्वनिर्मित हैं। उन्हें इसे सांस्कृतिक मुद्दे तक सीमित करने के बजाय इसकी राजनीतिक अन्तरवस्तु में जाना चाहिये। यदि वे ऐसा करें तो यह हम सभी के लिये बड़ी अच्छी बात होगी। तब वे दलित साहित्यकारों की व्यवस्थापरस्ती के स्रोत केवल अम्बेडकरवाद में ही नहीं ढूंढेंगे। तब वे दलित साहित्यकारों की व्यवस्थापरस्ती को एक बड़ी परिघटना का हिस्सा मानेगें। तब वे विगत दो दशकों में संसदीय चुनावबाज राजनीति में दलित संगठनों/पार्टियों के उभार को अपने संज्ञान में लेंगे। तब वे पिछले चार–पांच दशकों में दलित–प्रश्न की प्रकृति में आये मूलभूत परिवर्तन को पहचानेंगे। राजसत्ता के चरित्र से इसे जोड़ते हुए एवं भारतीय समाज के आर्थिक रिश्तों में इसके आधार को उजागर करते हुए वे दलित–प्रश्न की सही प्रस्तुति करेंगे। ऐसे में शरण कुमार लिम्बाले जैसों पर अपना ध्यान केन्द्रित करने और उन्हें एक पैराग्राफ देने के बजाय वे यह ज्यादा जरूरी समझेगें कि मायावती/कांशीराम परिघटना पर पैराग्राफ दिये जायें क्योंकि शरण कुमार लिम्बाले साहित्यिक जगत में इसकी अभिव्यक्ति मात्र हैं। तब वे इतने पर रूकेगें नहीं। तब वे इसके दूसरे पहलू ब्रह्मेश्वर सिंह/रणवीर सेना परिघटना का भी विश्लेषण करेंगे। ऐसा करते हुए हो सकता है कि वे दलित–प्रश्न के समाधान के लिये किसी सही क्रान्तिकारी रणकौशल को खोज निकालें कि वे जाति उत्पीड़न के सवाल को वर्ग–संघर्ष से सही तरीके से जोड़ सकें।

लेकिन अफसोस कि दलित–प्रश्न पर *सृजन–परिप्रेक्ष्य* का *'सही रूख'* जन–सामान्य के जीवन की इन मूलभूत बातों को नहीं उठाता। उसका एजेन्डा इनसे जूझने के बजाय दलित साहित्यकारों एवं अम्बेडकरवाद पर विवेचनाओं/विमर्शो तक सीमित है। यहाँ मामला क्षमताओं व काबिलियत का नहीं है। इसके लिये केवल मण्डी हाऊस की मण्डली के मोह से मुक्त होने की जरूरत है।

सम्पादकीय आलेख में दलित–प्रश्न पर *सृजन–परिप्रेक्ष्य* कि अवस्थिति में जाति संगठनों के पूरे मामले पर कोई बात न पाकर हमें वाकई हैरानी हुई। हम कम से कम इतनी उम्मीद तो करते ही थे कि *सृजन–परिप्रेक्ष्य* यह तो बतायेगी कि वह अपनी ओर से दलित–संगठनों अथवा जाति आधारित संगठनों का निर्माण करेगी या नहीं ? सम्पादकीय आलेख ने इस महत्वपूर्ण व्यावहारिक प्रश्न को छुआ तक नहीं।

'स्त्री–प्रश्न पर सही रूख अपनाओ'। शीर्षक के तहत सम्पादकीय आलेख में जो कुछ लिखा गया है उसे पढ़ने पर यह आभास होता है कि यह अवस्थिति सिमोन द बुआ की अवस्थिति से एक कदम आगे कि अवस्थिति नहीं है, बस इसे मार्क्सवादी शब्दावली का छौंका लगाकर वामपंथी दायरों में स्वीकार्य बनाने की कोशिश की गयी है। इस उपखण्ड के तहत आप चारों पैराग्राफ पढ़ जायें,आप को यह नहीं पता चलेगा कि *सृजन–परिप्रेक्ष्य* नारी–उत्पीड़न का मूल स्रोत किसे मानती है। इस मामले में रोशनी डालने के लिये एक अमूर्त वाक्य यह है कि *''साहित्य–कला–संस्कृति की दुनिया में जारी स्त्री–विमर्श में पुरूष–वर्चस्ववाद के प्रश्न को एक समान–निरपेक्ष, स्वायत्त प्रश्न के रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है''* जिससे इतना ही समझ में आता है कि स्त्री–प्रश्न को समाज से काट कर नहीं प्रस्तुत किया जाना चाहिये परन्तु यह कहीं से भी पता नहीं चलता कि नारी–उत्पीड़न का मुख्य आधार आखिर है क्या? इस मामले में रोशनी डालने के लिये एक सुस्पष्ट वाक्य यह है कि *''––लेकिन स्त्री–पुरूष असमानता के* ***भौतिक–ऐतिहासिक आधारों के नष्ट होने के बाद भी*** *यौन–भेद और पुरूष–वर्चस्व की सहस्त्राब्दियों पुरानी संस्कृति समाज में एक लम्बे समय तक मौजूद रहेगी और सतत्–सांस्कृतिक क्रान्तियों की एक लम्बी प्रक्रिया के बाद ही उसका निर्मूलन सम्भव हो सकेगा।''* हमने जान–बूझकर वाक्य के एक हिस्से पर जोर दिया है क्योंकि इस पर गौर करने पर स्पष्ट हो जाता है कि *सृजन–परिप्रेक्ष्य* के लिये नारी–उत्पीड़न निजी–सम्पत्ति के खात्मे के बाद भी **(भौतिक–ऐतिहासिक आधारों के नष्ट हो जाने के बाद भी।)** बना रहेगा। तब सहज निष्कर्ष यही निकलता है कि नारी–उत्पीड़न मर्दों की फितरत, उनकी मूलभूत जहनियत का हिस्सा है, जो कि निजी सम्पत्ति के खात्मे के बाद भी बची रहेगी। सिमोन द बुआ भी तो यही कहती हैं। इस मामले में यदि संदेह–रियायत के लिये कुछ बचा था कि हम हाथ रोक कर

आलोचना करते तो उसे इस उप–खण्ड के अन्तिम वाक्य ने खत्म कर दिया। वाक्य है *"अतः इस प्रश्न पर सांस्कृतिक आन्दोलन की शुरूआत हमें अपने* ***निजी जीवन और आचरण*** *से करनी होगी।"* अर्थात् स्त्री–उत्पीड़न के विरूद्ध जेहाद की शुरूआत भी परिवार के मर्द से होगी और इसका अन्त भी परिवार के मर्द पर होगा ।

मित्रों, यह मार्क्सवाद नहीं है। यह मार्क्सवादी शब्दावली का इस्तेमाल करते हुये रेडिकल–नारीवाद है। हमें अफसोस के साथ कहना पड़ रहा है कि सिमोन द बुआ की रूह *सृजन–परिप्रेक्ष्य* के सम्पादकीय कक्ष में दाखिल हो चुकी है । आप को लेनिन नाम के ओझा की जरूरत है।

सर्वप्रथम, मार्क्सवाद नारी–उत्पीड़न को निजी सम्पत्ति की व्यवस्था से स्वतंत्र नहीं मानता। मार्क्सवाद इस बात को नहीं स्वीकारता कि निजी सम्पत्ति के खात्मे के बाद भी नारी–उत्पीड़न बचा रहेगा। हमारा दावा है कि जब स्त्री–पुरूष असमानता के भौतिक–ऐतिहासिक आधार नष्ट हो जायेंगे तब नारी–उत्पीड़न नहीं बचेगा। मार्क्सवादी स्पष्ट होते हैं कि जिस विचार/मत का भौतिक–ऐतिहासिक आधार न हो वह विचार/मत विद्यमान नहीं रह सकता। जिस दिन निजी सम्पत्ति के सभी रूप समाप्त हो जायेंगे उस दिन आप अपने समस्त रेडिकल–नारीवादी मित्रों के साथ कब्र से निकल कर एड़ी–चोटी का जोर लगा लीजियेगा, आप समाज में नारी उत्पीड़न के खात्मे के लिये कोई सांस्कृतिक क्रान्ति नहीं कर पायेंगे। उस जमाने की महिलायें आप को शिक्षित करेंगी कि यह बीते जमाने की चीज थी। वे आपको यह सामान्य शिक्षा भी देंगी कि उत्पीड़न के किसी भी सवाल पर सांस्कृतिक क्रान्तियां तभी तक होती थीं जब तक निजी सम्पत्ति एक न एक रूप में बची हुई थी। जब निजी सम्पत्ति के सभी रूप नष्ट हो गये तब हर प्रकार का उत्पीड़न भी समाप्त हो गया क्योंकि उत्पीड़न का भौतिक आधार ही नहीं रह गया। वे आप की किताबों के पन्नों को पलटेंगी और पायेंगीं कि आप ने मात्र 'भौतिक आधार' शब्द इस्तेमाल नहीं किये हैं (हालाँकि यह पर्याप्त था) बल्कि आप ने तो 'भौतिक–ऐतिहासिक आधार' लफ्ज़ इस्तेमाल किए हैं । ऐसे में वे चेतना व पदार्थ के अन्तरसम्बन्धों पर मार्क्सवाद का क,ख,ग आप को बतायेंगी। आप को उनकी बात भी पल्ले पड़ जायेगी, परन्तु अफसोस कि इस इलहाम के बाद आप की रेडिकल–नारीवादी मित्र आप का साथ छोड़ देंगी ।

दूसरा, यह कि आज के दौर में स्त्री–प्रश्न की कोई प्रस्तुति मार्क्सवादी तभी मानी जायेगी जब वह यह स्पष्ट करे कि नारी–उत्पीड़न का मूल आधार परिवार के भीतर नहीं,उसकी चौहद्दी के बाहर समाज में है। इतना पर्याप्त नहीं कि यह बता दिया जाय कि पुरूष–वर्चस्व समाज–सापेक्ष है। सैद्धान्तिक विभ्रम के वर्तमान दौर में पुरूष–वर्चस्व के मूलाधार को बेपर्दा करना निहायत जरूरी है। हमें खेद है कि सम्पादकीय आलेख ने इस महत्वपूर्ण जिम्मेदारी का निर्वाह नहीं किया । लेकिन ऐसा अनजाने में नहीं हुआ है। ऐसा इसलिये हुआ क्योंकि सम्पादकीय के लेखकों को स्वयं ऐसा लगता है कि नारी–उत्पीड़न को बनाये रखने में समाज के सम्पत्ति सम्बन्धों से ज्यादा ताकतवर चीज परिवारिक संस्कार हैं जब वे स्वयं ऐसी भ्रांति के शिकार होते हैं तो यह मुमकिन नहीं कि वे स्त्री–प्रश्न की मार्क्सवादी प्रस्तुति कर सकें।

तीसरा, यह है कि एक वर्ग के बतौर दुनिया के साम्राज्यवादी एवं पूँजीपति,औरतों का औरत होने के नातें जो उत्पीड़न व शोषण करते हैं उस पर *सृजन–परिप्रेक्ष्य* का सम्पादकीय कतई खामोश है। क्या स्त्री–प्रश्न कि किसी मार्क्सवादी प्रस्तुति में परिवारिक दायरे एवं जनता के पिछड़ेपन के दायरे के बाहर के इस अहम मुद्दे पर एक पैराग्राफ भी नहीं दिया जाना चाहिए? पूँजीवाद–विरोधी क्रान्ति करने वाला कोई भी मार्क्सवादी स्त्री–प्रश्न पर अपने प्रचार व उद्वेलन में इस परिघटना को मुख्य निशाना बनायेगा क्योंकि वह जानता है कि नारीवादी इसे अपना मुख्य मुद्दा नहीं बनाते, कि उनके लिये जनता के पिछड़े संस्कार तथा परिवारों की मूल–मान्यतायें ही मुख्य मुद्दा होते हैं। जहाँ से नारीवादियों और कम्युनिस्टों की अवस्थिति के बीच स्पष्ट विभाजक रेखा खींची जा सकती है आप इस मामले पर कतई खामोश हैं। ऐसा क्यों? हम आप पर इस मामले में सचेत बदमाशी का आरोप नहीं लगा रहे। हमारा मानना है कि ऐसी गलतियाँ अनजाने में भी होती हैं, लेकिन अनजानी गलतियों के भी कारण होते है। हमें लगता है कि यह सब इसलिये होता है क्योंकि स्त्री–प्रश्न को एक राजनीतिक प्रश्न के रूप में लेने के बजाय आप ने इसे एक सांस्कृतिक सवाल तक सीमित कर दिया है।

विदा लेने से पहले

अन्त में हम आपकी समग्र थीसिस की नाभि को छुएँगे। आपका कहना है कि वर्तमान दौर सर्वहारा क्रान्ति के दो चक्रों के बीच का दौर है। कि पहले चक्र की क्रान्तियों का अन्त विश्वव्यापी विपर्यय में हो चुका है और दूसरे चक्र की

समाजवादी क्रान्तियाँ अभी शुरू नहीं हुई हैं। कि दो चक्रों के बीच के इस दौर में अतीत का समाहार और भविष्य का दिशा–निर्धारण कार्यभार है, इसीलिये वैचारिक कार्य प्रधानता ग्रहण कर लेता है ।

जो दिशा–निर्धारण आप कर रहे हैं उस पर हम अपनी बात कह चुके। आप के द्वारा दिखाये जाने वाले अर्ध–राजनीतिक रास्ते पर देश के कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी नहीं चलना चाहेंगे (वैसे आप तो नेपाल/पेरू एवं अन्य देशों के कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों को भी इसी रास्ते पर चलाना चाहते हैं)। वैचारिक कार्य को प्रधान घोषित करके साहित्यिक लेखन एवं अनुवाद की जिन गतिविधियों में आप लगे हुए हैं और जिस कारण पार्टी बनाने के व्यावहारिक काम को आप संजीदगी से नहीं कर रहे हैं, इसकी आलोचना भी हम कर चुके हैं। अब यहाँ *'इतिहास का पुनर्निरीक्षण'* की आप की थीसिस के बारे में भी दो बातें कर ली जायें।

ऐसा नहीं है कि दुनिया के कम्युनिस्ट अतीत के किसी समाहार के बगैर यूं ही व्यावहारिक कार्यों में लगे हुए हैं। अतीत का एक समाहार आज दुनिया के कम्युनिस्टों के पास है जिसे आधार बनाकर ही वे आगे बढ़ने की कोशिश कर रहे हैं। पिछले डेढ़ सौ वर्षों के वर्ग–संघर्षों का समाहार कम्युनिस्ट पार्टियां और कम्युनिस्ट नेताओं ने अपने कामों के दौरान किया है। पेरिस कम्यून की हार के बाद जो समाहार मार्क्स ने किये उसमें जोड़ने के लिये हमारे पास कुछ नहीं है। लेनिन ने भी उस समाहार में कोई बुनियादी बात नहीं जोड़ी। रूसी क्रान्ति की पराजय का समाहार माओ ने 1956 के बाद किया। माओ के समाहार और उससे निकलने वाले कार्यभार–'महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति' के प्रयोग को आत्मसात करने की प्रक्रिया से ही हम गुजर रहे हैं, इसमें भी कोई 'मूलभूत' बात हमारे पास जोड़ने के लिये नहीं है। चीनी क्रान्ति का एक समाहार–चीनी पार्टी की 10वीं कांग्रेस तक के समय तक–दुनिया के कम्युनिस्टों के पास है। 1976–77 में चीन में विपर्यय हुआ। माओ द्वारा रूसी क्रान्ति के समाहार की रोशनी में 1976–77 के बाद दुनिया के कम्युनिस्टों ने चीनी क्रान्ति का समाहार कर लिया और वे अब तक सर्वहारा क्रान्ति की निरंतरता को बनाये रखने में सफल रहे हैं। इसलिये उक्त समाहार मोटे अर्थों में ठीक ही है। ऐसे ही क्यूबा या भारत या इंडोनेशिया या अन्य देशों के वर्ग संघर्षो/क्रान्तियों का एक मोटा समाहार दुनिया के कम्युनिस्ट आन्दोलन के पास है। अब अतीत के समाहार में जो कमी है वह ढेर सारे बारीक मामलों पर है मसलन तीसरे इंटरनेशनल को भंग किये जाने का सवाल या फिर माओ द्वारा लिन–प्याओ को अपना उत्तराधिकारी घोषित किया जाना या ऐसे ही अन्य पेचीदा प्रश्नों पर समझ का साफ होना। ऐसी कमियों से कहीं बड़ी बात यह है कि जो भी अधिकारिक समाहार हमारे पास उपलब्ध हैं उनकी प्रकृति आंशिक समाहारों की है, पिछले डेढ़ सौ वर्षो के वर्ग–संघर्षो का समग्रता में कोई समाहार उपलब्ध नहीं है। परन्तु इस जिम्मेदारी को न हम पूरा कर सकते हैं,न *सृजन–परिप्रेक्ष्य* की कोर–टीम, न ही नेपाल या पेरू की कम्युनिस्ट पार्टियां क्योंकि यह काम किसी ग्रुप की औकात के बाहर का तो है ही, यह किसी देश की कम्युनिस्ट पार्टी के बूते की बात भी नहीं है। इस जिम्मेदारी का सही तरीके से निर्वाह एक इंटरनेशनल ही कर सकता है। एक इंटरनेशनल के पास ही इस काम को करने के लिये आवश्यक तथ्य, समझदारी एवं अनुभव हो सकते हैं।यदि कोई ग्रुप इस काम में हाथ डाले तो उसकी हालत वैसी ही होगी जैसी मेंढक चीरने वाले 9वीं कक्षा के विद्यार्थी की होगी यदि वह न्यूरो सर्जरी के लिये किसी मरीज की खोपड़ी चीर डाले। हम *सृजन–परिप्रेक्ष्य* की कोर–टीम से विनती करते हैं कि अतीत का जितना समाहार अन्तर्राष्ट्रीय कम्युनिस्ट आन्दोलन ने अब तक किया है वे उसे ही आत्मसात करने का प्रयास करें और अपने वैचारिक कार्य के बतौर 'इतिहास का पुनर्निरीक्षण' करने के चक्कर में न पड़े। इसे करके मनोगत एवं गलत निष्कर्षों तक पहुंचने के बजाय,उन्हें इस काम की पूर्व–शर्तें पूरी करने में अपनी ऊर्जा लगानी चाहिए। ये पूर्व–शर्तें हैं––– भारत में अखिल भारतीय क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट पार्टी का गठन व निर्माण, भारत में वर्ग–संघर्षो का विकास, सत्ता पर कब्जा इत्यादि। इन पूर्व–शर्तो को पूरा करने के दौरान ही हममें, आपमें और भारत एवं दुनिया के अन्य कम्युनिस्टों में वह तमीज पैदा होगी कि वे कम्युनिस्ट इतिहास का कोई वस्तुनिष्ठ पुनर्निरीक्षण कर सकें। यदि इतिहास का वस्तुनिष्ठ–वैज्ञानिक पुनर्निरीक्षण न करना हो, केवल शेखचिल्लीपन की नुमाइश करनी हो तो यह कभी भी की जा सकती है, आप आज ही मेज लगाकर बैठ जायें । अंत में, आप से विदा कैसे लें ? चलिये आपको आईना दिखाकर विदा लेते हैं। जनवरी–मार्च 2001के दायित्वबोध के सम्पादकीय में आप ने लिखा है (शब्दों पर जोर हमारा है)।*''.....पिछले दिनों ज्ञानपीठ पुरूस्कार लेते समय शुतुर्मुर्गी व्यक्तिवादी मानववाद के आवरण में प्रतिक्रिया के सर्वाधिक सजग प्रवक्ता लेखक निर्मल वर्मा जी ने फरमाया था कि साहित्य निर्वासित मनुष्य का अन्तिम शरण्य है। उन्हीं के शब्दों में थोड़ा हेर–फेर करते हुए कहा जा सकता है कि* ***आज कला–साहित्य अपनी सुविधा, सुरक्षा और आरामतलबी के लिये, राजनीति से स्व–निर्वासित लोगों का अन्तिम शरण बन रहा है।''***

❑ ❑ ❑